वामपंथ :
व्याधि और उपचार

डॉ. शंकर शरण

https://www.pravakta.com/
left-disease-and-treatment/

वामपंथी व्याधि और उपचार

"जैसे पूरी पृथ्वी पर 'कोरियोलिस इफेक्ट' एक समान है, और नदियों का बहाव इस तरह होता है कि सदैव दाहिना किनारा कटता और टूटता है, जबकि बाढ़ का पानी बाएं किनारे पर फैलता है, उसी तरह धरती पर लोकतांत्रिक उदारवाद के सभी रूप दक्षिणपंथ पर चोट करते हैं और वामपंथ को गले लगाते हैं। उनकी सहानुभूति सदैव वामपंथ के साथ रहती है, उन के पांव केवल बाईं दिशा में चलने को प्रस्तुत रहते हैं, उनके व्यस्त सिर सदैव वामपंथी तर्कों को सुनने के लिए हिलते हैं, किंतु यदि वे दक्षिणपंथ की ओर से एक बात सुनने के लिए कोई कदम उठाएं तो लज्जा अनुभव करते हैं।"[1]

- **अलेक्सांद्र सोल्झेनित्सिन** (नवंबर 1916: "लाल चक्र" / द्वितीय गांठ)

*****

१

आज धरती पर मार्क्सवादी-लेनिनवादी राजनीति अप्रासंगिक हो चुकी है। जहां इसकी उत्पति हुई थी, उन यूरोपीय देशों में अब इसका नामलेवा भी कठिनाई से मिलता है। तब क्यों भारत में न केवल यह अब भी प्रभावी है, वरन् इसकी शक्ति बढ़ी प्रतीत होती है? भारतीय नीति-निर्माण, विशेषकर शिक्षा, संस्कृति और अंतर्राष्ट्रीय संबंध में इसका दखल पहले से बढ़ा है। यही नहीं, महत्वपूर्ण नियुक्तियों में मार्क्सवादियों की पसंद-नापसंद की निर्णायक भूमिका देखी जा रही है। इस चिंताजनक स्थिति के कारण विविध हैं, जिनमें कुछ हमारा दुर्भाग्य भी है। सभी बिंदुओं को ठीक-ठीक समझे बिना इस व्याधि का उपचार होना कठिन है।

वामपंथ की अपील एक भूमंडलीय व्याधि है, यह तो स्पष्ट है। मार्क्सवादी राजनीति के सभी दावों की पोल खुल जोने के बाद भी आज भी, हर कहीं, जब-तब, किसी विषय पर, वामपंथी शब्दजाल, यहां तक कि उसकी घातक से घातक अनुशंसाओं को भी आदर से देखा जाता है। इसका मुख्य कारण यही है कि वह निर्धन, दुर्बल जनों की पक्षधरता के रूप में प्रस्तुत की जाती है। चाहे व्यावहारिक परिणाम में वह दुर्बलों की और दुर्गति करने वाली ही क्यों न हो, किंतु जब कोई विचार वामपंथी शब्दजाल में आता है तो अच्छे-अच्छे समझदार भी सहानुभूति में सिर हिलाते हैं। इसी को भूगोल के *'कोरियोलिस इफेक्ट'* के रूपक से सोल्झेनित्सिन ने सटीक व्याख्यायित किया है।

किंतु भारत में वामपंथी प्रभाव बनने, बढ़ने के स्थानीय कारण भी रहे। ब्रिटिश शासन रहने के कारण हमारे उच्च वर्ग की कई पीढ़ियां औपनिवेशिक शिक्षा से दीक्षित हुई, जिसने सचेत रूप से भारतीय दर्शन, चिंतन, परंपरा एवं संस्कृति को हीन तथा पश्चिमी चिंतन को श्रेष्ठ प्रचारित किया था। सत्ता, शक्ति व निरंतर प्रचार के दबाव में यह भी दिखाया गया मानो भारत की पराधीनता में उस श्रेष्ठता का भी हाथ था। चूंकि मार्क्सवादी, वामपंथी विचारधाराएं भी पश्चिमी उत्पति हैं, अत: उन्हें भी महत्व दिया गया। उन्नीसवी-बीसवीं शती में हमारे देश के अनेक भावी नेता और भावी विद्वान पढ़ने इंग्लैंड गए और वहां के प्रचलित फैशन 'वामपंथ' से प्रभावित हो लौटे।

यही नहीं, भारत के हिंदू चिंतन, स्वदेशी राजनीतिक कार्यक्रमों, मानदंडों को अपदस्थ करने के लिए हमारे क्रांतिकारियों को मार्क्सवाद की ओर झुकाने और इस प्रकार पथभ्रष्ट करने का कार्य स्वयं अंग्रेज शासकों ने भी किया। जेल में भगतसिंह जैसे क्रांतिकारियों को मार्क्सवादी पुस्तक-पुस्तिकाएं पढ़ने के लिए देना इस उद्देश्य से था कि वे स्वेदशी आंदोलन (1905-1910) की विशुध्द भारतीय राष्ट्रवादी, क्रांतिकारी परंपरा से दूर हों। इस प्रकार बंकिमचंद्र, स्वामी दयानन्द, लोकमान्य तिलक, स्वामी विवेकानंद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री अरविंद प्रभृत मनीषियों, क्रांतिकारियों की सशक्त प्रेरणाओं से विमुख हों। अनुभव तथा दूरदृष्टि रखने वाले अंग्रेज जानते थे कि वह देसी प्रेरणाएं उनकी औपनिवेशिक सत्ता के लिए अधिक घातक है। इसलिए उन्होंने

भारतीय राष्ट्रवाद को विभाजित और रोगग्रस्त करने के लिए मार्क्सवादी कीटाणुओं को फैलाने में स्वयं भी एक भूमिका निभाई थी। यह भी स्मरण रहे कि 1947 तक भारतीय कम्युनिस्टों का संचालन, निर्देशन प्राय: 'ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी' के माध्यम से होता रहा।

भारत को मजहबी आधार पर विभाजित करने तथा पाकिस्तान बनवाने में भारतीय कम्युनिस्टों की महत्वपूर्ण भूमिका को भी उसी पृष्ठभूमि में समझा जाना चाहिए। भारतीय राष्ट्रवाद को विखंडित करने में ब्रिटिश साम्राज्यवाद, इस्लामी साम्राज्यवाद तथा कम्युनिस्ट साम्राज्यवाद, इन तीनों ने अलग-अलग और मिलकर भी काम किया था। **इस महत्वपूर्ण तथ्य को स्वतंत्र भारत में छिपाया गया।** इसी कारण हमारी युवा पीढ़ी आसन्न इतिहास की भी कई मोटी बातें भी नहीं जानती। यह इसलिए संभव हुआ क्योंकि स्वतंत्र भारत के दुर्भाग्य से इसके पहले प्रधानमंत्री ही पक्के कम्युनिस्ट समर्थक थे। महात्मा गांधी ने अपने निजी प्रेम व मोह में जवाहरलाल नेहरू को अकारण, अनावश्यक रूप से अपना 'उत्तराधिकारी' घोषित कर, इस प्रकार अपनी प्रतिष्ठा का प्रयोग करके उन्हें सत्ता दिला दी, जबकि नेहरू अपने विचारों, नीतियों, चरित्र आदि किसी बात में गांधी से मेल नहीं खाते थे। नेहरू विचारों में पक्के सोवियतपंथी थे, इसका प्रमाण उनका संपूर्ण लेखन-भाषण है।

नेहरूजी के नेतृत्व में बल-पूर्वक, सत्ता के दुरूपयोग, सेंशरशिप, प्रलोभन-प्रोत्साहन-हतोत्साहन तथा अलोकतांत्रिक तरीकों से यहां मार्क्सवाद-लेनिनवाद तथा सोवियत संघ व लाल चीन के प्रति आलोचनात्मक विमर्श को रोका गया। (देखें, सीताराम गोयल, *"जेनिसिस एंड ग्रोथ ऑफ नेहरूइज्म"*, खंड 1, 1993) भारत में जो ऐतिहासिक संघर्ष राम स्वरूप जी की पुस्तिका *'लेट अस फाइट द कम्युनिस्ट मीनेस'* (1948) जैसे कई गंभीर प्रकाशन तथा *'सोसाइटी फॉर डिफेंस ऑफ फ्रीडम इन एशिया'* (1952) की स्थापना के साथ आरंभ हुआ था, उसे यदि नेहरू ने अनैतिक तरीकों से शुरू में ही दबोच कर नष्ट न किया होता तो भारत में मार्क्सवादी दबदबा कायम नहीं हो सकता था। वह तरीके थे, उदाहरणार्थ: किसी पुस्तक प्रदर्शनी में स्वयं अधिकारियों द्वारा (पार्टी कार्यकर्ताओं या गुंडों द्वारा नहीं) इनके *प्राची प्रकाशन* का स्टॉल जबर्दस्ती बंद करवा कर (कलकत्ता, अप्रैल 1954); नौकरी से निकलवाकर; पोस्टल

विभाग द्वारा नियमानुरूप प्राप्त की गई सुविधा को अवैध तरीके से छीनकर (1953); विदेश में कम्युनिज्म विरोधी सम्मेलनों में जाने से रोकने के लिए बिना कारण बताए पासपोर्ट न देकर (मई 1955); भारत में कम्युनिस्ट-विरोधी सम्मेलनों को विफल बनाने के लिए महत्वपूर्ण लोगों को कह-सुन कर उसमें जाने से रोक कर; प्रेस में वैसे कार्यक्रमों की चर्चा को गुम या कम करवा कर; आयोजकों-लेखकों को खुफिया पुलिस द्वारा परेशान करवा कर; अखबारों में महत्वपूर्ण पदों पर कम्युनिस्टों और उनसे सहानुभूति रखने वालों को नियुक्त करवा कर; उनके माध्यम से प्रेस में कम्युनिस्ट विरोधी लेखकों, राष्ट्रवादी विद्वानों पर तरह-तरह के लांछन लगवाकर; आदि। ऐसे तरीकों से नेहरूजी के समय में इस वैचारिक आंदोलन को खड़े होने से पहले ही गिरा दिया गया था। लगभग उन्हीं जबरिया तरीकों से जैसे कम्युनिस्ट देशों में 'क्रांति-विरोधी' या 'प्रतिक्रियावादी' संगठनों, विचारों, संस्थाओं को ध्वस्त किया जाता रहा है। भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था की सीमाओं के कारण इसमें जो मर्यादा रही हो, यह और बात है। नेहरूजी को बड़ा लेखक, बुद्धिजीवी माना जाता है, किंतु कम्युनिस्ट विचारों का प्रचार वह जोर-जबर्दस्ती के सहारे ही कर सके थे। वह तो माओ त्से तुंग द्वारा 1962 में लगाए गए तमाचे ने खेल खराब किया और कम्युनिस्ट साम्राज्यवाद की वास्तविकता दिखाकर भारतवासियों को एक गहरा झटका दिया, अन्यथा नेहरूजी फिडेल कास्त्रो वाले रास्ते पर जा रहे थे।

इस तरह छल, बल, प्रपंच, सत्ता के दुरूपयोग आदि सब प्रकार से इसकी पूरी व्यवस्था की गई कि अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन के कुकर्मों को भारतीय जनता न जान सके, बल्कि उसके प्रति सहानुभूतिशील हो। ध्यान रहे, सरदार पटेल के 1950 में आकस्मिक निधन के बाद नेहरू का हाथ रोकने वाला भी न रहा। अन्य राष्ट्रवादी या तो किनारे कर दिए गए या उन्होंने चुप्पी साध ली। इस परिस्थिति में नेहरूजी ने केवल कम्युनिस्ट विचारधारा ही नहीं, बल्कि भारत-विभाजन कराने वाले कम्युनिस्टों को भी वैचारिक-राजनीतिक रूप से ऊंचा स्थान दिलाया। चूंकि वह काल स्वतंत्र भारत की नीतियों-परंपराओं की स्थापना का भी था, इसलिए वामपंथी मिथ्याचारों, भ्रमों, नारों आदि को आधिकारिक रूप से जो प्रथम स्वीकृति मिली, उसने कालांतर में स्थापित मूल्यों का स्थान पा लिया। उसका दबदबा आज भी चल रहा है।

इस दुर्भाग्यपूर्ण प्रक्रिया को इससे और सुविधा हुई कि गैर-वामपंथी, राष्ट्रवादी विचारों वाले लोग, संगठन और संस्थाओं ने उसके घातक परिणामों को नहीं समझा। इसलिए कोई कड़ा, संगठित विरोध नहीं किया। कुछ लोग तो उल्टे सोवियत, चीनी, कम्युनिस्ट प्रचारों की कई बातों को सत्य मान बैठे। इसलिए लेनिनवाद की साम्राज्यवादी विचारधारा, उसके घातक नारों, प्रस्थापनाओं, उसके निहितार्थों के प्रति जनता को शिक्षित करने के स्थान पर उसे भी एक विचार के रूप में आदर देने लग गए, बल्कि सामंजस्य बिठाने तक का प्रयास करने लगे। यह शतियों पुरानी हिंदू भूल का ही दुहराव था, जो बाहरी साम्राज्यवादी विचारधाराओं का गंभीर अध्ययन करने के प्रति उदासीन रही और कुछ ऊपर झूठी-सच्ची बातों के आधार पर उसके बारे में कामचलाऊ राय बना कर अपने कर्तव्य का अंत समझती है। **भारत-विरोधी, शत्रुतापूर्ण विचारों के प्रति यह आत्मघाती सहिष्णुता; स्थायी वैरभाव से भरी आक्रामक विचारधाराओं को बिना ठीक से जाने उनके प्रति भी 'सम' भाव दिखाना -हिंदुओं की इस पुरानी भूल का भी लाभ कम्युनिस्ट राजनीति को मिला।**

इन्हीं संयुक्त दुर्भाग्यों का परिणाम था कि जब सभी विकसित, सभ्य देशों में समय के साथ कम्युनिज्म के सिद्धान्त-व्यवहार की पोल खुलने लगी, तब भी स्वतंत्र भारत में उसके प्रति शिक्षित लोगों में भ्रम बना रहा। इस बीच नेहरू से लेकर इंदिरा जी तक के दौर में कम्युनिस्टों ने शैक्षिक, वैचारिक, नीति-निर्माण संस्थानों में गहरी घुसपैठ बनाई। राष्ट्रवादी विचारों वाले नेताओं और विद्वानों ने इसका विशेष प्रतिरोध नहीं किया। फल यह हुआ कि विद्वत-संस्थाओं, पाठयपुस्तकों, समाचार-पत्रों आदि पर कम्युनिस्टों के पर्याप्त नियंत्रण के माध्यम से देश की नई पीढ़ी को वैचारिक रूप से भ्रष्ट, अशक्त किया गया। **आज प्रशासन, मीडिया, विद्वत-जगत आदि सभी क्षेत्रों में नेतृत्वकारी स्थानों पर ऐसे लोग भरे पड़े हैं जो सचेत या अचेत रूप से भारतीय सभ्यता-संस्कृति के विरूद्ध हैं। वे हर उस चीज की वकालत करते हैं जिसके लिए कम्युनिस्ट, इस्लामी या मिशनरी संगठन प्रयत्नशील हैं।** हिंदू समाज को निर्बल बनाने तथा तोड़ने एवं भारत को तरह-तरह से विखंडित करने के सभी बाहरी प्रयासों को हमारे

प्रबुद्ध, सत्तासीन वर्ग का मानो उदार समर्थन प्राप्त है। उन प्रयासों की हर आलोचना उन्हें 'हिंदू सांप्रदायिकता' लगती है। यह अनायास नहीं हुआ। इसके पीछे वह पृष्ठभूमि है जिसकी ऊपर संक्षिप्त चर्चा है।

दुर्भाग्यवश राष्ट्रवादी भारतीयों एवं हिंदू उच्च-वर्ग की कमियां आज भी यथावत् हैं। पिछले सौ वर्ष के कटु अनुभवों के बाद भी वे भीरूता और भ्रम के शिकार हैं, बल्कि यह भी उदासीनता का ही संकेत है कि एक उदार लोकतंत्र में रहते हुए भी उन्हें हाल के इतिहास और वर्तमान घटनाक्रमो की भी कई गंभीर बातों का कुछ पता नहीं रहता। 1947 में एक झटके में भारत का विभाजन इसीलिए संभव हुआ था, क्योंकि लाहौर, करांची, ढाका और बंबई, इलाहाबाद, मद्रास के भी प्रबुध्द, प्रभावी, धनी-मानी हिंदू ऐसी किसी चीज की कल्पना ही नहीं करते थे। वे भी, आज की तरह, *'जनता तो एक है' 'सभी धर्म समान हैं', 'हमारी संस्कृति साझी है', 'हर विचारधारा में अच्छी बातें हैं'* तथा *'केवल राजनीति वाले गड़बड़ी करते हैं'* जैसे बाजारू, झूठे जुमले दुहरा कर अपना बौद्धिक, राष्ट्रीय कर्तव्य समाप्त समझते थे और मजे से अपने-अपने उद्योग, व्यापार, साहित्य या कला की दुनिया में मगन थे। इसीलिए जब एकाएक साम्राज्यवादी विचारधाराओं का एक निर्णायक, समवेत प्रहार हुआ तो वे हतप्रभ् उसकी मार झेलने के सिवा कुछ न कर सके। कृपया ध्यान दें: 1947 में भी संपूर्ण भारतीय जनसंख्या में प्रत्येक इस्लामी राजनीतिकर्मी, कम्युनिस्ट कार्यकर्ता, ईसाई-मिशनरी प्रचारक अथवा ब्रिटिश अधिकारी की तुलना में राष्ट्रवादी विचारों वाले दस-दस सुशिक्षित, संपन्न, स्वस्थ हिंदू मौजूद थे। एक के अनुपात में दस और समर्थ होकर भी वे कुछ क्यों न कर सके? क्योंकि वे वैसे आघात के लिए तैयार न थे।

इस प्रकार, भारतीय सभ्यता के प्रति स्थायी वैरभाव से भरी शत्रु विचारधाराओं के प्रति भ्रम, उदासीनता और तैयारी न होने से ही भारत को छल से तोड़ा गया था। किंतु आज भी वह विचारधाराएं यथावत् अपने प्रयास में जुटी हुई हैं। और आश्चर्य की बात है कि आज भी हमारा उच्च वर्ग उसी तरह अपनी अज्ञानी या स्वार्थी दुनिया में निश्चिंत बैठा है। वह सेंसेक्स, प्रति व्यक्ति आय, कथित विकास के आंकड़ों पर फूल कर, सड़कें,

बिल्डिंगे बनवा कर, इंडिया शाइनिंग और सेक्यूलरिज्म की रट लगाकर एवं हर समुदाय के उत्कृष्ट प्रतिनिधियों की ओर निहार कर स्वयं को और देश को सुरक्षित समझता है। किंतु कश्मीर, असम, नागालैंड, मेघालय आदि की फिसलती हालत से आंख मिलाने से कतराता है – जहां मुट्ठीभर कटिबद्ध इस्लामी, ईसाई-मिशनरी नेता और पश्चिमी-अरबी धन से चलने वाले संगठन भारत से इंच-इंच धरती छीन रहे हैं। इस ज्ञात संकट से आंख मिलाने के बदले भारत का हिंदू उच्च-वर्ग उन्हीं वैरी विचारधाराओं के ही थमाए गए झूठे नारे दुहरा कर प्रसन्न, शुतुरमर्ग की तरह आश्वस्त रहना अथवा अपनी लज्ज़ास्पद स्थिति को छिपाना चाहता है। उन नारों पर संदेह उत्पन्न होने पर भी जांचने के बदले उस संदेह से ही अपने को दूर रखने का यत्न करता है। इस आत्मघाती प्रवृत्ति को विदेशी तत्त्व तथा मीडिया, विश्वविद्यालय आदि में जमे मूढ पर प्रगल्भ हिंदू प्रोत्साहन देते हैं कि वह असुविधाजनक सच्चाइयों का सामना करने के बदले उससे आंखें फेर ले। और फेरे ही रखे। भारत के उच्चवर्गीय हिंदुओं की इस लज्ज़ास्पद प्रवृत्ति के कारण ही स्वतंत्र भारत में कश्मीर क्षेत्र में हिंदुओं का सामूहिक विनाश हुआ, असम में हो रहा है तथा केरल, पश्चिमी बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश के सीमावर्ती क्षेत्र उसी दिशा में डग बढ़ रहे हैं। और यह सब केवल एक पहलू है- हमें भौगोलिक रूप से विखंडित, संकुचित करने के प्रयास।

भारत को भावनात्मक, वैचारिक, सांस्कृतिक रूप से भी पहले नि:शस्त्र, फिर ध्वस्त करने के यत्न आज भी उतनी ही कटिबद्धता से हो रहे हैं। और उसके प्रति भी हमारे उच्च-वर्ग-नेताओं, बुद्धिजीवियों, प्रशासकों, उद्योगपतियों की उदासीनता वैसी ही लज्ज़ास्पद है। यह उदासीनता केवल अज्ञानजन्य नहीं, यह इससे स्पष्ट है कि यदि कोई भारत के सभ्यतागत शत्रुओं के कुटिल प्रयासों के प्रति ध्यान आकृष्ट कराता है तो उल्टे उसे ही चुप कराने का चौतरफा उपाय किया जाता है; उसे लांछित, दंडित कर दूसरों को भी संदेश दिया जाता है कि सब चुप रहें। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्थायी शत्रुताभाव से भरे देशी-विदेशी बैरी इससे और प्रोत्साहित होते हैं। मिशनरियों द्वारा देश के सुदूर, छिपे इलाकों में असहाय हिंदुओं का

संगठित, आक्रामक रूप से धर्मांतरण कराना; उन्हीं मिशनरियों द्वारा मुखौटा बदल कर देश की राजधानी में 'सेक्युलरिज्म', 'दलित मुक्ति', 'मानवाधिकार' आदि की आक्रामक वैचारिक गतिविधियों द्वारा शिक्षा, प्रशासन और न्यायतंत्र को विभिन्न हथकंडों से बरगलाकर अपने अनुकूल बनाना; इस्लामी तत्वों द्वारा भारतीय राज्यनीति व न्यायपालिका तक को अपने दबदबे में रखने का यत्न करना; तथा इने-गिने मार्क्सवादियों द्वारा देश के संवैधानिक पदों पर नियुक्ति कर अपना वीटो चलाना तथा इन्हीं सब तत्वों द्वारा भारत की राष्ट्रवादी चिंताओं और हिंदू धर्म-परंपरा को एक स्वर में दिन-रात निंदित करना आदि इसके कुछ प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

इस प्रकार भारत को वैचारिक, सांस्कृतिक रूप से मूढ, असहाय बनाकर पराभूत करने के गंभीर प्रयास हो रहे हैं। यह प्रयास निष्फल नहीं, यह इसी से स्पष्ट है कि जो सहज बातें कोई हिंदू विद्वान या नेता चार दशक पहले कह सकता था, आज नहीं कही जा सकती। उसे दंडित होना पड़ेगा। डॉ. कर्ण सिंह जैसे विख्यात विद्वान और राजनेता को राष्ट्रपति पद का उम्मीदवार यह कह कर नहीं बनाया गया कि उनमें हिंदूपन है, जबकि उपराष्ट्रपति के लिए सभी उम्मीदवार इस आधार पर चुने गए कि वे मुस्लिम हैं। दोनों ही कार्य एक-दो कम्युनिस्टों ने सुनिश्चित किए। प्रत्येक दल के अनेक नेता यह अनाचार मौन देखते रहे, बल्कि इसमें योगदान किया। यह सांकेतिक घटनाएं हैं जिनसे सीख ली जानी चाहिए कि **साम्राज्यवादी, आक्रामक विचारधाराओं, संगठनों के प्रति अनुचित सहिष्णुता दिखा कर जो 'सहमति' बनाई जाती है, वह स्थिति को यथावत नहीं रहने देती। वह आगे-आगे राष्ट्रवादियों से, हिंदुओं से और भी रणनीतिक-वैचारिक स्थान छीनेगी। अर्थात्, इससे शांति या सहयोग नहीं बनेगा, बल्कि विषम स्थिति और बिगड़ेगी। दूसरे शब्दों में, जिस चीज से हिंदू उच्च वर्ग बचना चाहता है, ठीक वही और भी भयावह, अशांत रूप में आएगी।** 1947 में यही हुआ था। यदि आप आज शत्रु विचारों से वैचारिक लड़ाई से भी कन्नी काटते हैं तो कल आपको प्रत्यक्ष युद्ध झेलना पड़ेगा। इस का उल्टा भी सत्य है: यदि आज आप वैचारिक प्रतिकार करते हैं तो कल युद्ध की नौबत नहीं आएगी। वैचारिक संघर्ष से ही समाधान निकल आ सकता है, बशर्ते आपकी चौकसी ढीली न हो।

*****

"सामाजिक विकास के लिए 'मध्य मार्ग' चुनने से अधिक कठिन कोई ओर कार्य नहीं। बड़बोलापन, तना हुआ मुक्का, बम, जेल की सलाखें तब आपके किसी काम नहीं आएंगी, जैसे वह दोनों अतिवादी ध्रुवों वाले लोगों के काम आती हैं। मध्य मार्ग पर चलना अत्यधिक आत्म-नियंत्रण, नितांत अडिग साहस, सबसे धैर्यपूर्ण आकलन और सर्वाधिक सटीक जानकारी की मांग करता है।"[2]

- अलेक्सांद्र सोल्झेनित्सिन (नवंबर 1916 : "लाल चक्र" / द्वितीय गांठ)

*****

२

इस संकटपूर्ण स्थिति में भारत के चिर-शत्रुओं - मार्क्सवादियों तथा अन्य साम्राज्यवादी विचारधाराओं, संगठनों के विरूद्ध किसी राष्ट्रवादी को कैसा संकल्प लेना चाहिए? भारतीय सभ्यता के स्थाई बैरियों के प्रतिकार के लिए भारतीय राष्ट्रवादी को क्या करना और क्या नहीं करना चाहिए?

यह बात भी सोलेझिनित्सिन के शब्दों से ही समझना आरंभ करें, जिसे उन्होंने "मध्य-मार्ग" कहा है। उसी को हम "राष्ट्रवादी मार्ग" मान कर चलें तो पहली बात तो यह कि भारतीय राष्ट्रवादियों के लिए वह तरीके उपयुक्त नहीं हैं, जिनका सहारा मार्क्सवादी, मिशनरी या इस्लामी राजनीतिकर्मी लेते हैं। यदि हिंदू राजनीतिकर्मी या समाजसेवी केवल बड़ी-बड़ी बातों या छल-प्रपंच से काम चलाना चाहें तो उसकी दुर्गति होगी। उदाहरणार्थ, जो हिंदू नेता समझते थे कि वे भी केंद्र में सत्ताधारी बनकर उसी तरह शिक्षा-संस्थाओं का उपयोग या दुरुपयोग करेंगे, उन्हें संभवत: समझ आयी होगी कि उनके लिए वह मार्ग नहीं खुला है। हिंदू नेता जिस तरह तीन दशक तक उदासीन भाव से मार्क्सवादी-नेहरूपंथी प्रचारकों द्वारा शिक्षा की विकृति देखते रहे वैसे उनके शत्रु नहीं रहने वाले! वे तो अच्छे कार्यों पर भी आसमान सिर पर उठा लेंगे और आपका काम करना दूभर कर देंगे। वे सचेत रहे हैं और आप उदासीन – इस का अंतर तो

समझें। अत: मात्र सत्ता के आसरे किसी विकृति को सुधारने का भी काम यदि हिंदू नेता करना चाहें तो उचित, संवैधानिक कदम होने पर भी उसके विरूद्ध अंतर्राष्ट्रीय रूप से संगठित हिंदू-विरोधी शक्तियां समवेत रूप से चीख-पुकार आरंभ कर देंगी। 1998-2004 के बीच यही हुआ।

दूसरी बात, मार्क्सवादियों, इस्लामियों द्वारा की गई अनुचित जिदों, याचनाओं पर भी उदारता दिखाने और समर्थन दे देने के बदले में वे हिंदू नेताओं की उचित मांगों पर भी सहयोग देंगे, इसकी आशा करना भारी भूल है। हिंदू पहचान वाले नेतागण कभी न भूलें कि उनके लिए वे रास्ते नहीं खुले हैं जो अंतर्राष्ट्रीय रूप से कटिबद्ध, संपन्न हिंदू-विरोधी संगठनों, नेताओं के लिए सुलभ हैं। वे यह भी समझें कि शतियों से पराधीनता में रहते हुए हिंदू समाज का अभी कोई स्वाभाविक, आत्मविश्वासपूर्ण बुद्धिजीवी या शासनकर्मी वर्ग तक नहीं बना है। और यह काम किसी जादू से या रातों-रात नहीं हो सकता। अत: केवल सत्ता प्राप्ति की जुगत में लगे रहना और उसी माध्यम से कुछ करने की आशा करना (यद्यपि यह भी संदिग्ध है कि अनेक हिंदू नेता कोई वैसा राष्ट्र-हित या हिंदू-हित का काम करना चाहते भी हैं) एकदम व्यर्थ है।

अत: **राष्ट्रहित का कार्य नित्य का कार्य है, जो प्रत्येक राष्ट्र-विरोधी कदम के सुनिश्चित, प्रभावी विरोध की मांग करता है। चाहे वह प्रशासन में हो, शिक्षा-संस्कृति या अर्थ-व्यवस्था और विदेश नीति में। साथ ही, देश के लिए लोगों को जगाना, संगठित और तत्पर करना भी नित्य किए जाने का कार्य है। विशेषकर विचार, शिक्षा, संस्कृति, न्यायतंत्र के क्षेत्र में तो यह नित्य, इंच-इंच भूमि के लिए लड़ी जाने वाली अहर्निश लड़ाई है जिसमें प्रत्येक कोताही उसी अनुपात में शत्रु को लाभ देने के समान है।** चार दशक में भारत में आ गए जिस प्रतिकूल परिवर्तन का ऊपर उल्लेख है, वह इसी तरह शत्रु के विचारों के प्रति उदारता या उदासीनता दिखाने का भी फल है।

यह लड़ाई लड़ने के लिए शक्ति एकत्र करने के साथ-साथ अहर्निश जागरूकता आवश्यक है। यदि शत्रु ने रूप बदल लिया है तो आपको भी तदनुरूप बदलना होगा। उदाहरण के लिए, सोवियत संघ और विश्व साम्यवादी तंत्र के पतन के बाद मार्क्सवादियों ने अपनी शब्दावली और

वैचारिक लड़ाई के क्षेत्र बदले हैं। भारत ही नहीं, कई देशों में कम्युनिस्टों ने अब अपनी शक्ति इस्लाम को समर्पित कर दी है। यद्यपि पहले भी कम्युनिस्ट लोग इस्लाम के प्रति सदय थे, किंतु सोवियत विघटन के बाद यह बढ़ गया। जिन्हें इसके बारे में अधिक जानने की इच्छा हो वह प्रसिद्ध *'फ्रंटपेज मैगजीन'* के मुख्य संपादक डेविड होरोवित्ज की नई पुस्तक *'अनहोली एलायंस: रेडिकल इस्लाम एंड द अमेरिकन लेफ्ट'* से जायजा ले सकते हैं। वैसे होरोवित्ज ने अपने पचास वर्ष के अनुभव के आधार पर यह पुस्तक लिखी है। कम्युनिस्टों के पास अब किसी सामाजिक क्रांति का मोटा विचार भी शेष नहीं है। अंध-अमेरिका विरोध के नाम पर साम्यवादी लोग पहले भी अयातुल्ला खुमैनी जैसे तानाशाहों, अत्याचारियों का समर्थन करते रहते थे। अब वही उनका एकमात्र अवलंब है जिस कारण वे सिमी, जिलानी, तालिबान, सद्दाम, अहमदीनेजाद, जवाहिरी जैसे हर तरह के देसी-विदेशी इस्लामवादियों के साथ दिख रहे हैं।

अत: **ध्यान रहे कि अब कम्युनिस्ट नेता मार्क्स या लेनिन की प्रस्थापनाएं नहीं दुहराते। उसके स्थान पर उन्होंने भारत के अन्य सभ्यतागत शत्रुओं के मुहावरे उठा लिए हैं। इसलिए अब वे सेक्यूलरिज्म, माइनॉरिटी राइट्स, मानव अधिकार, वीमेन राइट्स, दलित अधिकार आदि के नारे लगाते हैं। यह सभी नारे भारतीय सभ्यता को विखंडित करने के लिए ही प्रयोग किए जा रहे हैं। इसीलिए यहां इनका सबसे अधिक उपयोग ईसाई-मिशनरी, इस्लामी राजनीतिकर्मी और पश्चिमी सम्राज्यवादी तंत्र करते रहे हैं। मार्क्सवादी अब उन्हीं के साथ जुड़े हुए हैं। ऐसी स्थिति में यदि आज कोई राष्ट्रवादी मार्क्स, लेनिन के ग्रंथ पलट कर उसकी आलोचना करके माक्सर्ववादियों से लड़ना चाहता है तो वह मूर्खता कर रहा है। उसका समय तीन दशक पहले था (जब उसे नहीं किया गया)। आज तो आपको सेक्यूलरिज्म, मानवाधिकार आदि की आड़ में देशद्रोहियों को सहयोग और इसके लिए संविधान, कानून का नित्य भीतरघात करने के संयुक्त वामपंथी-इस्लामी-मिशनरी प्रपंचों से लड़ना होगा। यहां मार्क्सवादी अब मुख्यत: भारतीय राष्ट्रवाद तथा हिंदू धर्म की लानत-मलानत करते हैं और भारत को कमजोर करने में लगी विदेशी शक्तियों अथवा संगठित धर्मांतरण कराने में लगी मिशनरी एजेंसियों के लिए ढाल बनकर खड़े होते हैं।**

इस लड़ाई को रोज-रोज वैचारिक, शैक्षिक और कानूनी क्षेत्र में लड़ना होगा। *मीडिया, प्रशासन* और *न्यायालय* – इन तीन क्षेत्रों पर मार्क्सवादियों एवं सभी साम्राज्यवादी शत्रुओं ने स्वयं को केंद्रित किया है। जबकि दुर्भाग्यवश, राष्ट्रवादी शक्तियां केवल चुनावी लड़ाई और जोड़-तोड़ पर ही ध्यान दे रही हैं। मीडिया पर ध्यान देती भी हैं तो उसे 'मैनेज' करने का प्रयास होता है। किन्हीं पत्रकारों या मालिकों को खुश करके कुछ विशेष नेताओं या नीतियां का बचाव करने के लिए। किंतु राष्ट्र-हित के लिए लड़ाई का कोई भाव नहीं दिखता। जबकि **आवश्यकता बिल्कुल सीधी लड़ाई की है।** विदेशी धन, प्रयोजन और तरह-तरह के विदेशी पुरस्कारों, निमंत्रणों का ढेर लिए जो साम्राज्यवादी, हिंदू-विरोधी शक्तियां हमारे देश के चुनिंदा बुद्धिजीवियों, पत्र-पत्रिकाओं, चैनलों आदि को खुले-छिपे नियंत्रित कर रही हैं, उसे राष्ट्रवादी उसी तरह 'मैनेज' नहीं कर सकते। उन्हें तो उसके विरूद्ध खुली लड़ाई लड़नी होगी। जनता को उसके प्रति सचेत करने और उनका बहिष्कार करने के लिए प्रेरित करना होगा। यदि निष्ठा से लड़ी जाए तो इस लड़ाई में केवल जीत ही जीत है। ठोस तथ्यों, उदाहरणों के साथ खुली व परिश्रमपूर्ण लड़ाई पूरे देश को शिक्षित करेगी। शत्रुओं के कदम ठिठकेंगे। प्रशासन और न्यायपालिका के लोग भी तरह-तरह के मनुहार करने वाले सुंदर लोगों के प्रति तनिक सचेत होंगे - ऐसे लोग जो उन्हें कभी 'मानव-अधिकार' तो कभी 'दलित' तो कभी 'वीमेन' के नाम पर उन्हें विदेशी प्रपंचों का सहायक बनाने में, कभी उद्घाटन कराने, तो कभी व्याख्यान देने बुलाते हैं और ये भोलेनाथ हिंदू – न्यायालयों के न्यायाधीशों से लेकर डी.आई.जी. या वाइस-चांसलर तक– इसकी भी जांच नहीं करते कि जो संस्था उन्हें आदरपूर्वक 'एजुकेशनल वर्कशॉप' में बुला रही है वह करती क्या क्या है, उनके नेतागण किन अन्य कार्यों में कटिबद्ध हैं तथा इन सबके लिए उन्हें धन कौन और किस लिए देता है। यह पूरी प्रक्रिया हमारे उच्च वर्गीय लोगों को 'थपकियां देकर सुलाने का विराट आयोजन' (*अज्ञेय*) कर रही है। इन सबसे भारत के सभ्यतागत् शत्रुओं की जो पहुंच पकड़ बढ़ रही है, वह बिना सीधी लड़ाई के नहीं रोकी जा सकती।

किंतु यह लड़ाई बड़ी बुद्धिमता, नियमितता और धैर्य से ही लड़ी जा सकती है। केवल क्षोभ या आक्रोश से उलझ पड़ना प्रतिकूल फल देगा। जैसा, हाल में कई घटनाओं ने दिखाया। 'वलेन्टाइन डे' के अवसर पर या पार्कों में युवक-युवतियों को बरजने का प्रयास, किसी समाचार-चैनल के दफ्तर पर मामूली तोड़-फोड़ या जहां-तहां त्रिशूल बांटना आदि कदमों के पीछे चिंता सही थी, किंतु परिणाम विपरीत हुए। **हिंदू-विरोधी शक्तियों ने इसका अपने पक्ष में सफलतापूर्वक उपयोग किया।** उन कामों में क्या गलती रही? पहली यह कि जो रास्ते इस्लामी गिरोहों के लिए हर देश में खुले हैं, मान्य हैं -हिंसा और धमकी- वह हिंदुओं के लिए स्वीकार्य नहीं होगे। क्यों और कैसे यह असमान स्थिति बनी हुई है, इस पर निर्भीक, गंभीर विचार किए बिना वैसे अविचारी तरीके अपनाना उल्टा परिणाम देगा ही। **हर बात पर हिंसा उग्रवादी कट्टरपंथी विचारधाराओं के मार्ग हैं। राष्ट्रीय निर्माण, देश की भलाई, लोगों को वास्तव में समर्थ, सक्षम बनाने का लक्ष्य हो तो हिंसा या बम साधन हो भी नहीं सकता।** दूसरे, वैसे विचारहीन आक्रोश से भरे कामों से शत्रु विचारों, संगठनों को तो कोई चोट नहीं पहुंचती, उल्टे साधारण व्यक्ति प्राय: कोई हिंदू या राष्ट्रवादी व्यक्ति ही कष्ट पाते हैं। तब वैसे काम करके हिंदूवादी या राष्ट्रवादी संगठन केवल उपहास पाते हैं।

इसीलिए **वैसे कदम उठाने चाहिए जिससे हानि, एकदम छोटी-सी ही क्यों न हो, शत्रु विचारों, संगठनों को पहुंचे। उसके अवसर रोज आते हैं, किंतु उन्हें गंवा दिया जाता है। इसलिए कि उन साधारण लगने वाली बातों का महत्व समझा नहीं जाता। हिंदू उसकी उपेक्षा कर देते हैं और हिंदू-विरोधी उससे लाभ उठा लेते हैं।** उदाहरण के लिए, यदि हमारे कोई न्यायाधीश या उच्च अधिकारी किसी मिशनरी संगठन द्वारा आयोजित 'मानवाधिकार' पर सेमिनार का उद्घाटन करने चला जाता है तो उनसे मिलकर प्रतिवाद व्यक्त करना, संबंधित संगठन के बारे में प्रामाणिक जानकारी देते हुए उद्घाटनकर्ता महोदय को सावधान करना कि वैसे संगठन अपने असली, संगठित धर्मांतरण कार्यों के लिए उनके नाम की प्रतिष्ठा से अपने संगठनों को प्रतिष्ठित बना रहे हैं। इसका वास्तविक प्रयोग एक ऐसे कार्य में होता है जो नैतिक, कानूनी दृष्टि से भी अवैध है। अथवा, यदि कोई बड़ा समाचार-पत्र किसी समाचार को तोड़-मरोड़ कर

हिंदू-विरोधी रूप में प्रस्तुत करता है अथवा किसी प्रसंग में राष्ट्रविरोधी शक्तियों का बचाव करता है, तो इसका ठोस उदाहरण लेकर उस पत्र के संचालकों का ध्यान नहीं आकृष्ट कराया जाता। दो-तीन बार ऐसा हो जाए तो पुन: ठोस उदाहरण मिलने पर, जिसमें पत्र के संपादक कोई बचाव करने की स्थिति में न हों, लोगों से उस पत्र या चैनल का बहिष्कार करने के लिए कहा जा सकता है। इसी प्रकार, यदि किसी पाठय-पुस्तक में स्पष्टत: किसी राजनीतिक विचारधारा का प्रचार है, किसी विचार या समुदाय के प्रति अनुपातहीन आलोचना या पक्षपात है, तो संबंधित शिक्षण-संस्थान एवं प्रकाशक के विरूद्ध शांतिपूर्वक किंतु कटिबद्धता से उसे संशोधित करने का आंदोलन चलाया जाना चाहिए। ऐसे संघर्ष के लिए धैर्यपूर्वक अथक प्रयत्न किया जाए तो सफलता निश्चित है। छोटी सफलताएं ही बड़ी का मार्ग प्रशस्त करेगी।

नि:संदेह इस प्रकार के नीरस कार्य बड़े परिश्रम-साध्य हैं। यह केवल साधन ही नहीं, धैर्य और सटीक जानकारी की मांग करते हैं। पर **आज चिंताशील हिंदुओं, राष्ट्रवादियों को यही तो समझना चाहिए कि उनके लिए सीधा और आसान मार्ग नहीं है।** वे मार्क्सवादियों की तरह लफ्फाजी करके या इस्लामवादियों की तरह धमकी देकर कुछ नहीं पा सकते। किसी 'बड़े मुद्दे' पर जनता को आवेश में लोकर, एकबारगी देशव्यापी समर्थन (वोट) जुटाने की आस में लगे रहना भी आलस्य और स्वार्थी प्रवृत्ति का ही परिचायक है। इसे कभी किसी नेता या गुट को लाभ हो जाए, उससे देश का भला नहीं होगा। **सच्चे देशभक्तों को शॉर्ट-कट की दुराशा त्याग देनी होगी। उन्हें शत्रुओं को छोटी-छोटी चोट देकर भी, अत्यंत साधारण दिखने वाली, किंतु अर्थपूर्ण जीत प्राप्त करके ही राष्ट्रवादी जनता का आत्मविश्वास, साहस और रचनात्मकता बढ़ानी होगी।**

कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे संकल्प वे नहीं ले सकेंगे जो केवल बड़े नेताओं की चापलूसी करके या जोड़-तोड़ करके इस या उस पद पर जाने की ताक में लगे रहने को ही "राजनीति" समझते हैं। यह कथित राजनीति नेहरूपंथ या कम्युनिस्टपंथ में तो चल सकती है, जिनके लिए साम्राज्यवादी विचारों, संगठनों के साथ 'भाई-चारा' रखना सहज कार्य है, किंतु

भारत में देशभक्ति की राजनीति और वंदे मातरम् का संकल्प रखने वालों के लिए कोई सरल मार्ग नहीं है। कम से कम अभी नहीं है। इसे हृदयंगम करके ही कोई राष्ट्रवादी महात्वाकांक्षा रखनी चाहिए।

टिप्पणी:

1. मूल रूसी से आधिकारिक अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है:

Just as the 'Coriolis effect' is constant over the whole of this earth's surface, and the flow of rivers is deflected in such a way that it is always the right bank that is eroded and crumbles, while the floodwater goes leftward, so do all the forms of democratic liberalism on earth strikes always to the right and caress the left. Their sympathies always with the left, their feet are capable of shuffling only leftward, their heads bob busily as they listen to leftist arguments – but they feel disgraced if they take a step to or listen to a word from the right.

- Aleksandr Solzhenitsyn, Novermber 1916: *The Red Wheel*, Knot II

2. मूल रूसी से आधिकारिक अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है:

Nothing is more difficult than drawing a 'middle line' for social development. The loud mouth, the big fist, the bomb, the prison bars are of no help to you, as they are to those at the two extremes. Following the middle line demands the utmost self-control, the most inflexible courage, the most patient calculation, the most precise knowledge.

- Aleksandr Solzhenitsyn, Novermber 1916: *The Red Wheel*, Knot II